06navneet_neeraj_Layout 1 8/19/2021 2:24 PM Page 124

# स्कूल, समाज और इक्कीसवीं सदी

नवनीत शर्मा, नीरज कुमार मनी
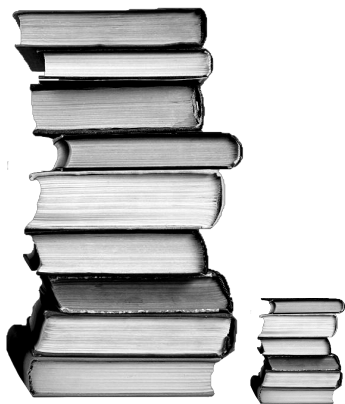
शिक्षा का संचालन शून्य में नहीं होता। यह संस्कृति और समाज पर पड़ने वाले बाह्य प्रभावों से अनुप्रेरित होती है। समाज के अतीत में स्थित परंपराओं से तो वह प्रभाव ग्रहण करती ही है, साथ ही उसे समकालीन वातावरण के अनुरूप बनाना होता है तथा उसमें निरंतर नए परिवर्तन भी करने होते हैं।[1] ख़्वाजा ग़ुलाम सैयदैन कहते हैं कि अच्छी शिक्षा एक अच्छे समाज में ही दी जा सकती है और बच्चे पर पड़ने वाला स्कूली प्रभाव उन शक्तियों द्वारा प्रतिबिंबित होता है जो राष्ट्र के व्यापक जीवन और स्कूल की चारदीवारी के बाहर की दुनिया में क्रियाशील हैं।[2] ज़ाकिर हुसेन के अनुसार स्कूल शून्य में नहीं रहता। वह समाज का एक अभिन्न और संवेदनशील अंग है। स्कूल अपने आसपास के समाज के जीवन से उदाहरण खोजता है और उनको अपना लेता है।[3] उपरोक्त परिभाषाओं में विभिन्न शिक्षाविदों ने जिस प्रकार से शिक्षा, स्कूल और समाज को जोड़कर परिभाषित किए हैं उससे यह ज़ाहिर होता है कि कोई भी शिक्षा संस्थान समाज के नियमों और मान्यताओं से प्रभावित हुए बिना नहीं चल सकता, पर साथ ही उसे कुछ महत्त्वपूर्ण चयन करना होता है, कुछ नैतिक विकल्प अपनाने होते हैं और एक ऐसी विषयवस्तु को खोजने का प्रयास करना होता है जिनका लक्ष्य एक 'अच्छा नागरिक' और 'अच्छा समाज' बनाना होता है और इसी संदर्भ

[1] श्यामाचरण दुबे (2000) : 33.

[2] वही : 33.

[3] वही : 33.

में जॉन डूई लिखते हैं कि समाज की जो भी उपलब्धियाँ हैं वह स्कूल के ज़रिए ही है। जो कुछ उसने अपने भावी सदस्यों को दिया है, वह अपने बारे में जो कुछ बेहतर सोचती है, नई संभावनाओं के रूप में जो कुछ पाने की उम्मीद रखती है, वह सब उसके भविष्य पर निर्भर होता है। यहाँ व्यक्ति और समाज एक हो जाते हैं। जिन व्यक्तियों से मिलकर समाज बनता है, उन सभी के पूर्ण विकास के लिए सच्ची कोशिश करने पर ही कोई समाज अपने प्रति सच्चा और ईमानदार हो सकता है। इस तरह के आत्मनिर्देश के लिए स्कूल से बढ़कर और कुछ नहीं।[4]

इस प्रपत्र में गुरुकुल पद्धति से लेकर औपनिवेशिक काल एवं स्वतंत्रताकालीन भारत में स्कूलीकरण के इतिहास की संक्षिप्त चर्चा करते हुए इक्कीसवीं सदी के ऐसे कौन से उद्दीपक होंगे जो स्कूल और समाज के अंतर्संबंधों को पारिभाषिक स्वरूप देंगे, इसे विमर्श का केंद्र बनाया गया है। इक्कीसवीं सदी के वैचारिक आंदोलनों ने स्कूली व्यवस्था के लिए किस प्रकार की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तैयार कर उनसे किस तरह के उद्देश्यों और अपेक्षाओं की पूर्ति करने की सापेक्षता प्रकट की है। इस प्रपत्र में बीसवीं सदी के विमर्श में शिक्षा की युगांतकारी भूमिका तलाश करते हुए, समाज और इक्कीसवीं सदी के अंतर्निहित प्रसंगों को भी तलाशा गया है तथा स्कूल, समाज और इक्कीसवीं सदी के मुख्यधाराईकरण और इनसे पनपने वाले संदर्भों पर भी विचार किया गया है।

## औपनिवेशिक काल में स्कूलीकरण

स्वतंत्रता-पूर्व भारत में स्कूल का विश्लेषण करने पर तीन विचार-तत्त्व स्पष्ट होते हैं। पहले तत्त्व का मूल स्वर पुनरुद्धारवाद था। हिंदू पुनरुद्धारवादियों ने अनेक स्कूल तथा उच्चतर शिक्षा संस्थाएँ स्थापित कीं, जो प्राचीन भारत की गुरुकुल पद्धति पर आधारित थीं। इन संस्थाओं में विद्यार्थियों और अध्यापकों को व्यापक समाज में क्रियाशील शक्तियों से अलग रखने की प्रवृत्ति थी। उन्होंने एक ऐसे संयमित जीवन पर बल दिया जिससे शरीर, मन और आत्मा की पवित्रता सुनिश्चित हो। उन्होंने केवल उन पुनीत ग्रंथों के अध्ययन को महत्त्व दिया, जिनमें प्रमुख रूप से वेद, उपनिषद, दर्शन और धर्मशास्त्र संबंधी साहित्य था।

दूसरे प्रमुख प्रयोग का लक्ष्य शिक्षा का देशीकरण था। इस प्रकार की संस्थाओं ने विदेशजन्य आधुनिक विद्या को बाहर करने का प्रयास नहीं किया। उनका मुख्य उद्देश्य शिक्षा को भारतीय परिस्थिति के लिए अधिकाधिक संगत बनाना और उनमें राष्ट्रवाद की धारा को प्रवाहित करना था। एक प्रकार से ये संस्थाएँ 'गांधी जी' के इस विख्यात वक्तव्य की भावना से अनुप्रमाणित थी कि 'मैं नहीं चाहता कि मेरे घर के चारों ओर दीवारें बना दी जाएँ और मेरी खिड़कियाँ बंद कर दी जाएँ। मैं चाहता हूँ कि सभी देशों के संस्कृतियों की हवा मेरे घर के आसपास निर्बाध रूप से बहती रहे, लेकिन मैं यह हरगिज़ नहीं चाहता कि वह हवा मुझे ही उड़ा ले जाए। मैं एक घुसपैठिए भिखारी या दास की तरह दूसरे के मकानों में नहीं रह सकता।'

---

[4] जॉन डूई (2009) : 5-6.

तीसरी धारा उन स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों की थी जो स्वयं औपनिवेशिक आदर्शों पर आधारित थे। उनके उद्देश्य को मैकाले की टिप्पणी से समझा जा सकता है — 'हमें इस समय एक ऐसे वर्ग का निर्माण करने का भरसक प्रयास करना चाहिए जो हमारे और उन लाखों-करोड़ों लोगों के बीच दुभाषिए का काम कर सकें, जिन पर हमारा शासन है, अर्थात ऐसे लोगों का, जो रक्त और वर्ण की दृष्टि से तो भारतीय हों किंतु रुचि–विचार, आचार-व्यवहार और विचार शक्ति में अंग्रेज़ हों।' ज़ाहिर है इन संस्थाओं से पाश्चात्य पद्धति का ऐसा शिक्षित वर्ग उत्पन्न करने की अपेक्षा थी, जो शासकों को देश के शासन-प्रबंधन में सहायता दें। साथ ही देश के शेष समुदाय को भी थोड़ी-बहुत शिक्षा प्रदान करने का दायित्व सँभाले। इस प्रकार औपनिवेशिक शिक्षा सामाजिक, आर्थिक विकास का साधन बनने की जगह विदेशी शासन की ज़रूरतों को ही पूरा किया। किंतु इसके साथ ही इस शिक्षा का ऐसा परिणाम भी निकला जो अपेक्षित नहीं था। एक ओर यदि उसने प्रशासन चलाने के लिए कुशल प्रशासकों का निर्माण किया तो वहीं दूसरी ओर ऐसे राष्ट्रवादी भी बनाए जिन्होंने औपनिवेशिक शासन से देश को स्वतंत्र किया।

## स्वतंत्रताकालीन भारत में स्कूलीकरण

बीसवीं सदी के स्वतंत्र भारत में स्कूली प्रणाली को संविधान से जोड़ा गया। माध्यमिक और विश्वविद्यालय स्तर पर प्रति वर्ष बढ़ती जा रही शिक्षा की भारी माँग को पूरा करने के लिए अधिकाधिक संख्या में शिक्षण संस्थाएँ खोली गईं। विस्तृत ढाँचा तैयार कर शैक्षिक प्रणाली में सुधार के नाम पर कई शिक्षा आयोग एवं नीतियाँ बनीं। इन सभी नीतियों एवं आयोगों में संवैधानिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के साथ-साथ देश के सम्मुख उपस्थित विभिन्न समस्याओं के निराकरण के लिए आधुनिक लक्ष्य निर्धारित किए गए। देश की विकास संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं तकनीक पर ज़ोर दिया गया और विज्ञान से पनपने वाले विकास को विकास का प्रतीक माना गया। फलतः बीसवीं सदी के स्कूलों में विज्ञान विषय को पढ़ने-पढ़ाने पर ज़ोर दिया गया। ये अलग बात है कि बीसवीं सदी के स्कूल के उद्देश्यों में जो विज्ञान विषय पढ़ने-पढ़ाने की पद्धति थी उससे वह समझ का न होकर रटने का विषय बनकर रह गया। अनिल सद्गोपाल लिखते हैं कि विज्ञान के नाम पर बच्चों को ऊलजुलूल एवं संदर्भहीन तथ्यों को क्यों रटना पड़ता है जबकि परीक्षाओं के बाद शायद ही कोई बच्चा इन्हें याद रखता हो। शिक्षकों के लिए भी इन तथ्यों के कोई मायने नहीं होते। ऐसी शब्दावली का क्या उपयोग हो सकता है जो भारी-भरकम शब्दों के अलावा और कुछ नहीं बताती है? ऐसी शिक्षा की क्या उपयोगिता है जो कक्षा और जीवन के अनुभवों के बीच एक दीवार खड़ी कर दे? ऐसी जानकारी की क्या सार्थकता यदि व्यावहारिक समस्याओं को हल करने के लिए उसका अनुप्रयोग करना संभव ही न हो?[5]

समतामूलक समाज की शिक्षा के लिए कोठारी शिक्षा आयोग के द्वारा समान स्कूल प्रणाली और पड़ोसी स्कूल की अवधारणा पर बात की गई। लेकिन राजनीतिक इच्छा की कमी के कारण

---

[5] अनिल सद्गोपाल (2000) : 27.

यह लागू नहीं हो पाया और शिक्षा का स्वरूप सामान्यतः औपनिवेशिक ही रहा। श्यामाचरण दुबे लिखते हैं कि नए स्वतंत्र देशों के साथ एक बड़ी विडंबना यह है कि औपनिवेशिक शक्तियों के अपने पूर्व शासित क्षेत्रों से चले जाने के बाद भी औपनिवेशिक विचारधाराएँ और कार्य पद्धतियाँ वहाँ आज तक बनी हुई हैं। अंतर केवल इतना है कि उनके रूप में कुछ सुधार आ गया है। देशी राजनीतिक विशिष्ट वर्ग के लोग, जिनमें अधिकांश ने पश्चिमी शिक्षा पाई थी और वहाँ के आचार-व्यवहार अपनाए थे, स्वयं को राज्य का वारिस समझने लगे। उन लोगों में से जो राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के दौरान तप तथा बलिदान की राजनीतिक संस्कृति में दीक्षित हो चुके थे, अधिकांश की जीवन–पद्धति सत्ता में आते ही अचानक बदल गई। उनकी कथनी और करनी में स्पष्ट अंतर आ गया। हालाँकि उनकी दृष्टि लोकोन्मुखी रही, फिर भी उन्होंने लक्ष्य निर्धारित करने और देश पर शासन करने के साम्राज्यिक स्वरूप को वैध बनाने में परोक्षतः और प्रत्यक्षतः योगदान किया।[6] 1947 के बाद भारतीय शासक वर्ग ने पूँजीवादी विकास का रास्ता अपनाया लेकिन सामंतवाद–साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद न करने तथा अपने संकीर्ण वर्णीय स्वार्थों के चलते उन्होंने अस्सी प्रतिशत जनता को विकास के दायरे से बाहर ही रखा। उन्हें देश में जनसुलभ शिक्षा मुहैया कराने की ज़रूरत नहीं समझी थी। आज़ादी के बाद देश में जितने भी शिक्षा आयोग बने और जितने भी नीतिगत बदलाव हुए, उन सबका उद्देश्य पूँजीवादी आर्थिक नीतियों के साथ शिक्षा व्यवस्था का तालमेल बैठाना रहा है न कि सबके लिए एक समान शिक्षा की व्यवस्था करना।[7] 1950 से लेकर 1990 तक यानी चालीस वर्षों तक जब भी नीति निर्धारण हुआ तो उसमें प्राइमरी और मिडिल दोनों को जोड़कर पूरी प्रारंभिक शिक्षा की बात की जाती रही है। सरकार ने हमेशा ही इसे अपना संवैधानिक दायित्व माना है, भले ही पूरा न किया हो, वह अलग बात है।[8] 1990 में विश्व बैंक, युनेस्को, युनिसेफ़ सहित कई अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की छत्रछाया में थाइलैंड के जोमतियन शहर में आयोजित 'सबके लिए शिक्षा' सम्मेलन में, जिसमें दुनिया के लगभग सभी देशों की सरकारें शामिल हुई थीं, प्राथमिक शिक्षा के महत्त्व को रेखांकित करते हुए हर देश ने इसके प्रति वचनबद्धता दोहराई, लेकिन साथ ही इस बात को भी ज़ोर–शोर से उछाला गया कि सबके लिए प्राथमिक शिक्षा की गारंटी तभी संभव होगी जब सरकार उच्च शिक्षा की ओर से अपना ध्यान पूरी तरह हटा ले। नतीजा सरकार और साम्राज्यवादी वित्तीय संस्थाओं ने अपनी शिक्षा नीतियों और योजनाओं में शिक्षा को नज़रअंदाज़ करते हुए इस क्षेत्र में सरकार की भागीदारी घटाने की सिफ़ारिश की।[9] परिणामस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में निजीकरण की बाढ़ आ गई। शिक्षा सरकारी नीतियों से तय न होकर बाज़ार के नियमों से तय होने लगी।

देश की बदलती हुई उपरोक्त सामाजिक, आर्थिक नीतियों ने समाज को भी प्रभावित किया। जो लक्ष्य बीसवीं सदी में स्कूलों के लिए निर्धारित किए गए थे और यह उम्मीद की गई थी कि समाज में बदलाव आएगा, उससे यह समाज कोसों दूर रहा।

---

[6] श्यामाचरण दुबे (2000) : 30.

[7] उमा रमण (2014) : 15.

[8] अनिल सद्गोपाल (2000) : 186.

[9] उमा रमण (2014) : 32.

समाज में समरसता के जगह पर जाति, लिंग, भाषा, बाज़ार, उद्योग एवं इनके लिए उपयोग में लाए जाने वाले पाठ्यक्रमों के आधार पर समाज का वर्गीकरण ही हुआ। अमर्त्य सेन एवं ज्याँ द्रेज़ लिखते हैं कि भारतीय योजना–निर्माण में प्राथमिक शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा, सामाजिक सुरक्षा और इनसे संबंधित अन्य मामलों में दिखाई देने वाला उपेक्षा का भाव, राजनीतिक और आर्थिक शक्ति के एक व्यापक असंतुलन के उस सामान्य ढाँचे में फ़िट बैठता है जो विशेषाधिकार लोगों के हितों की भारी अनदेखी करता है।[10]

## इक्कीसवीं सदी में स्कूलीकरण

ऐसे में यह तलाशना प्रासंगिक हो जाता है कि इक्कीसवीं सदी के ऐसे कौन-कौन से संकेतक होंगे, जो स्कूल और समाज के अंतर्संबंधों को पारिभाषिक स्वरूप देंगे। इस दिशा में विश्लेषण करने पर तीन संभावनाएँ बनती हैं। पहली संभावना बनती है कि स्कूल इक्कीसवीं सदी का है और समाज बीसवीं सदी में ले जा रहा है। इसे मांगलिक संदर्भ में देखने पर पाते हैं कि लड़की कॉन्वेंट एजूकेटेड है पर मांगलिक है। एक तरफ़ दुनिया चाँद पर जा रही है वहीं दूसरी तरफ़ देश में अभी भी मांगलिक लड़की से शादी करने को शुभ नहीं माना जाता। मंगलदोष (2012) में इसी मंगल पर नासा द्वारा भेजी गई क्यूरियॉसिटी मज़े से घूम रही है।) को दूर करने के लिए मंदिरों की परिक्रमा की जाती है, लाखों का चढ़ावा चढ़ाया जाता है और हज़ारों रुपये विधि-विधान पर ख़र्च किए जाते हैं। जो आमतौर पर समकालीन समाज में जिसे उत्तर–आधुनिक समाज भी कहा जाता है, देखने सुनने को मिल जाता है। ज़ाहिर है कि कॉन्वेंट स्कूल से पढ़ने-लिखने के बाद उस नागरिक से अपेक्षा की जा रही थी कि वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण का वाहक-प्रसारक होगा परंतु समाज में जड़ जमाई हुई अंधविश्वास एवं रूढ़िवादी धारणाएँ उसकी प्रगतिशीलता को अवरुद्ध कर देती है।

दूसरी संभावना बनती है जिसमें समाज इक्कीसवीं सदी का है और स्कूल बीसवीं सदी में ले जा रहा है। इस संभावना को पुणे के मौसम विभाग से जुड़ी एक घटना से समझा जा सकता है। मौसम विभाग की निदेशक एवं वैज्ञानिक मेधा खोले, जो इस संस्थान में डायरेक्टर जनरल के पद पर थी, थाने में जाकर रिपोर्ट लिखवाती हैं कि मेरी नौकरानी ने मेरी धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचाई और धोखाधड़ी की है, क्योंकि वह मुझसे झूठ बोली कि वह सुमंगली ब्राह्मणी है जबकि वह दलित विधवा है और मेरा खाना बना रही थी और मैं उम्मीद कर रही थी कि वह सुमंगली ब्राह्मणी होगी। भारतीय संदर्भ में विज्ञान, वैज्ञानिकता और वैज्ञानिक स्वभाव का शायद ही कोई प्रभाव हो और जब महिलाओं की बात आती है तो यह दोहरे संकट से ग्रस्त लगता है। महिलाएँ धर्म और जाति की मूल्य-वाहक होती हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाली एक आधुनिक महिला, धर्मनिष्ठ महिला की विरोधी है। एक वैज्ञानिक महिला होने के नाते, मेधा खोले को विज्ञान के साथ तारतम्यता बनानी पड़ती है और सांस्कृतिक परिवेश उन्हें जाति और धर्म से जुड़े मूल्यों की ओर खींचते हैं। महिलाएँ घर का 'सम्मान' होती है, जिन्हें पुरुषों द्वारा संरक्षित किया जाता है। महिलाओं को एक तर्कपूर्ण प्राणी नहीं

[10] अमर्त्य सेन तथा ज्याँ द्रेज़ (2012) : 17.

माना जाता है। इसके अलावा महिलाओं को सोचना बिल्कुल नहीं चाहिए। एक महिला की धार्मिक मामलों को लेकर अपनी व्याख्या नहीं हो सकती। हिंदू पौराणिक कथाओं में एक महिला को बचपन में पिता द्वारा, युवावस्था में पति द्वारा और बुढ़ापे में बेटे द्वारा संरक्षित किया जाता है। नारी और तर्कसंगत सोच या विज्ञान दो समानांतर रेखाएँ हैं जो शायद ही जुटती हैं। इस प्रकार विज्ञान, नारीत्व, जाति और धर्म से हार जाता है और स्कूल के बाहर की शिक्षा, स्कूल में पढ़ाए गए पाठों के विरुद्ध जीत हासिल कर लेती है। लेकिन जिस समाज में गणेश दूध पीते हैं, मंगलयान के मॉडल को दिव्य आशीर्वाद के लिए तिरुपति के चरणों में रखा जाता है, विज्ञान के छात्र अपनी उत्तर पुस्तिकाओं के शीर्ष पर 'जय सरस्वती माँ' लिखकर अपनी परीक्षा शुरू करते हैं, वहाँ मेधा खोले जैसे लोग केवल एक सामान्य विडबंना की तरह दिखते हैं।[11]

भारतीय योजना-निर्माण में प्राथमिक शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा, सामाजिक सुरक्षा और इनसे संबंधित अन्य मामलों में दिखाई देने वाला उपेक्षा का भाव, राजनीतिक और आर्थिक शक्ति के एक व्यापक असंतुलन के उस सामान्य ढाँचे में फ़िट बैठता है जो विशेषाधिकार लोगों के हितों की भारी अनदेखी करता है।

तीसरी संभावना बनती है जिसमें स्कूल और समाज दोनों बीसवीं सदी के युगीन हैं पर हम यह भ्रम बना लेते हैं कि दोनों संस्थाएँ इक्कीसवीं सदी की हैं या उत्तर-आधुनिक है। उत्तर-आधुनिकता एक प्रवृत्ति है, एक विचारधारा है, जो अपने पूर्ववर्ती सारी विचारधाराओं का अंत करके उनकी जगह अपना स्थायी स्थान बनाने का प्रयास करती है। ध्वंसात्मकता उसकी विशेषता है। वह वर्चस्व को चुनौती देती है और केंद्र पर प्रहार करती है। केंद्र में स्थापित सत्ता को विस्थापित कर हाशिए के लोगों को केंद्र में लाती है। फलतः दलित-विमर्श, नारी-विमर्श, जेंडर-विमर्श, भाषाई-विमर्श जैसे विमर्शों का उद्भव होता है। इन विभिन्न विमर्शों में अपने अर्थ संदर्भों के साथ उत्तर-आधुनिकता एक विचारधारा के रूप में स्थिर हुई है। इस आधार पर इक्कीसवीं सदी के समाज को विश्लेषित करें तो समाज में आज भी कुछ ऐसी विसंगतियाँ (असमानता, अस्पृश्यता, असंवेदनशीलता, अमानवीयता, शोषण आदि) विद्यमान है, जो समाज पर लगातार नकारात्मक प्रभाव डालते हैं। कांचा इलैया स्कूली संरचना, चरित्र तथा सामाजिक यथार्थ को परिलक्षित करते हुए कहते हैं कि विद्यालय के अध्यापक का हमारे प्रति रवैया उसकी अपनी जातीय पृष्ठभूमि पर निर्भर करता था। अगर वह ब्राह्मण होता तो हमसे घृणा करता। वह हमारे सामने ही कहता है कि कलयुग या बुरे समय का ही असर है कि उसे हमारे जैसे शूद्रों को पढ़ाने के लिए मजबूर किया जा रहा है। उसकी निगाह में हममें कुछ भी अच्छा नहीं था। ... लेकिन स्वतंत्रता के बाद जब हमारे लिए विद्यालयों के द्वार खोल दिए गए तब वहाँ विद्यालयों के अध्यापक हमारे ख़िलाफ़ थे। पाठ्य-पुस्तकों की भाषा हमारे ख़िलाफ़ थी। हमारे घरों में जो संस्कृति थी, वही संस्कृति हमारे

[11] नवनीत शर्मा तथा अनामिका (2017)

विद्यालय में नहीं थी। इलैया इस तरह के शिक्षाई बर्ताव को एक गंभीर हिंसा के षड्यंत्र की तरह देखते हैं और कहते हैं कि उनकी चेतना तथा उनकी संस्कृति को उनके तथा उनके जैसे बहुसंख्यक शिक्षार्थियों के दिमाग़ में कभी भी पनपने नहीं दिया गया।[12]

ऐसे में इक्कीसवीं सदी में पढ़ने के क्या मायने होंगे? क्या सिर्फ़ सूचनाओं को एकत्रित कर लेना पढ़ना है? वर्तमान समय में सोशल मीडिया का प्रचलन हावी है जिसके माध्यम से अनेक प्रकार की सूचनाओं का विस्तारण एवं आदान-प्रदान किया जा रहा है, जिसमें यह फ़र्क़ करना मुश्किल हो जाता है कि यह ज्ञान है या सूचना या मिथ्या या भ्रम। जिस प्रकार से ये सूचनाएँ हमारे समाज में प्रचलन में हावी हैं, को इंगित करते हुए कृष्ण कुमार लिखते हैं कि हज़ारों-लाखों तरह की सूचनाएँ उपलब्ध और सुलभ ही नहीं, हावी हैं। हम चाहें न चाहें हमें वह दी जा रही हैं। जब हम डेढ़ साल के बच्चे होते हैं, तभी से हम पर सूचनाएँ बरसनी शुरू हो जाती है। ऐसा कौन-सा घर है जहाँ ये नए संचार माध्यम नहीं हैं? आप इन माध्यमों पर विचार करेंगे तो पाएँगे कि इन माध्यमों की तह में ज्ञान तथा सूचना के भेद को मिटा देने का षड्यंत्र है'।[13] पढ़ना, सुनना और सीखना एक श्रमसाध्य काम है, जिसका सूचना प्राप्ति से कोई संबंध नहीं है। पढ़ना और सुनना विवेकशील चेतना की सायास अभिव्यक्ति को ग्रहण करना है, समझना है, उसका पुनर्चिंतन है। यह भाव के सूक्ष्म-भेद की पहचान करना सीखना है और वह भी बिना डिकोडिंग के पागलपन में गर्त हुए। यह दूसरे के विचारों को अपने दिमाग़ में अभिनीत होने की छूट देना है।[14] इस तरह पढ़ने में वे विचार हमारे अपने 'आप' का, हमारी समझ का, हमारी अपने में समझ का ही एक हिस्सा बन जाते हैं। इस प्रकार सूचना और ज्ञान का फ़र्क़ अगर सहज विवेचन के स्तर पर किया जाए तो उससे यही प्रतीत होता है कि ज्ञान वह परिचय है जिसको रखने की कोई जगह उस मनुष्य ने बना ली है, जिस ज्ञान को वह पाना चाहता है।

वहीं विमर्श का एक आयाम यह भी है कि इक्कीसवीं सदी में पढ़ाने के क्या मायने होंगे? सूचना प्रौद्योगिकी के बढ़ते प्रयोग ने पढ़ाने के कौशल में भी बदलाव लाए हैं। पढ़ाने की नए तकनीकों का ईजाद किया गया है। इन तकनीकों में मूक और मॉडल का उपयोग पढ़ाने के लिए किया जा रहा है जो उपयुक्त प्रोग्रामिंग तकनीक से तैयार, शिक्षण के सिर्फ़ एक एजेंट के रूप में कार्य करती है और इस प्रकार की पढ़ाई को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में आधुनिक और उत्तर-आधुनिक पढ़ाई माना जाता है। लेकिन मूक और मॉडल के माध्यम से पढ़ाने पर जो शिक्षण होता है, उसमें वह कक्षाई विमर्श एवं गतिविधियाँ शामिल नहीं हो पाती हैं जो संरचनाकृत विद्यालय में विद्यार्थियों का शिक्षक के साथ और एक विद्यार्थी का दूसरे विद्यार्थी के साथ समानता की अवधारणा से अवगत कराता है। शिक्षाशास्त्र में इस प्रकार की नई-नई उभरती चुनौतियों का सामना करने के लिए ल्योतार लिखते हैं कि नई प्रौद्योगिकी लगातार विकसित हो रही है, इसलिए हमें इस प्रौद्योगिकी के अनुरूप नया ज्ञान विकसित करने की आवश्यकता है। नई तकनीक हमारे ज्ञान को प्रभावित करती है, इसलिए नई

---

[12] कांचा इलैया (2006) : 13-16.

[13] कृष्ण कुमार (2002) : 73.

[14] माइकल ओकशॉट (2002) : 8.

तकनीकों द्वारा दी गई चुनौती का सामना करने के लिए हमें प्रासंगिक व वास्तविक ज्ञान की आंतरिक विशेषताओं के प्रति सजग होना होगा।[15] पढ़ाना एक ज्ञानमीमांसीय अवधारणा है, जो मानवीय ज्ञान की परिधि से परिचालित होती है और यह परिधि जहाँ एक ओर संवेद्य अनुभव से बँधी प्रतीत होती है वहीं दूसरी ओर इसका बंधन ऐसी बुद्धिजन्य और प्रतीक-बद्ध प्रत्यात्मकता में प्रतीत होता है जो स्वयं में सदा विस्तार्य होते हुए भी मनुष्य के ज्ञान के स्वरूप को आबद्ध करती है। माइकल ओकशॉट लिखते हैं कि पढ़ाने का अर्थ है, कुछ महत्त्वपूर्ण जो शिक्षक सिखाना चाहता है उसे किस तरह से शिक्षार्थी ने ग्रहण किया है, समझा है, स्मरण किया है। अतः शिक्षण एक वैविध्यपूर्ण कर्म है जिसमें कई गतिविधियाँ समाहित हो सकती हैं। जैसे इंगित करना, सुझाना, प्रेरित करना, फुसलाना, प्रोत्साहित करना, निर्देशित करना, चिह्नित करना, वार्तालाप, आदेश देना, सूचना देना, वर्णन करना, व्याख्या देना, अभ्यास, जाँचना, परीक्षा लेना, आलोचना करना, संशोधन करना आदि-आदि। वास्तव में वह सब कुछ जो समझ के विकास में बाधक न हो।[16] लेकिन उदाहरण के तौर पर समकालीन स्कूली संस्कृति में विज्ञान विषय को जिस प्रकार से पढ़ाया जाता है उसके शिक्षण शास्त्रीय चरित्र को रेखांकित करते हुए कृष्ण कुमार अपने लेख 'क्या पढ़ाया जाए' में लिखते हैं कि एक ऐसे विषय के रूप में जिसमें विद्यार्थी को प्रयोग और व्यक्तिगत पड़ताल करनी होती है, विज्ञान वस्तुनिष्ठ तथ्यों की मौजूदगी में विद्यार्थी और शिक्षक के बीच समानता और निर्णय की आज़ादी से जुड़ा है। विज्ञान की पढ़ाई के संबंध में यह माना जाता है कि वह सेक्युलर मूल्यों को बढ़ावा देगा क्योंकि वह आरोपित सत्ता को निरर्थक बना देता है। लेकिन अगर विज्ञान को पारंपरिक तरीक़े से पढ़ाया जाए, उसमें पाठ्यपुस्तक और शिक्षक के शब्दों की संप्रभुता को स्वीकार किया जाए और उसमें प्रयोग का कोई अवसर नहीं दिया जाए, तो उसका सेक्युलर चरित्र और महत्त्व नहीं रह जाएगा। पुराने चले आ रहे पढ़ाई के तरीक़ों को लागू रखने के कारण अगर विज्ञान का मूल चरित्र ख़त्म होता है, तो विज्ञान कक्षा में और फिर समाज में तानाशाही का हथियार भी बन सकता है। अगर विज्ञान को ऐसे संदर्भ में पढ़ाया जाए जहाँ बराबरी या खुली बहस की इजाज़त नहीं है तो विद्यार्थी ऐसे मूल्यों को ग्रहण करेंगे जो विज्ञान के चरित्र के ख़िलाफ़ होंगे।[17] हालाँकि ऐसा सिर्फ़ विज्ञान विषय को लेकर पढ़ाने का ही नहीं है, कृष्ण कुमार उपरोक्त वाक्य में जिस संदर्भ को इंगित कर रहे हैं उस संदर्भ को गहराई से समझा जाए

इक्कीसवीं सदी के स्कूल की जब भी बात होती है तो स्कूल को आधुनिकता या उत्तर-आधुनिकता के विमर्श में रखकर विश्लेषित किया जाता है। ऐसे में इक्कीसवीं सदी के स्कूल की परिकल्पना करें तो क्या वह स्कूल ऐसा होगा, जिसमें विद्यार्थी कॉपी-किताब के बजाय स्मार्टफ़ोन, नोटबुक, लैपटॉप, टैबलैट और आइपैड लेकर जाएँगे?

[15] देवशंकर नवीन तथा सुशांत कुमार मिश्र (2016) : 66.

[16] माइकल ओकशॉट (2002) : 9.

[17] कृष्ण कुमार (2013) : 27.

तो वह समकालीन स्कूली पाठ्यचर्या के सभी विषयों को पढ़ाने के साथ परिलक्षित होती है और यह संकेत प्रदान करती है कि इक्कीसवीं सदी में भी पढ़ाने की मूल ज्ञानमीमांसीय अवधारणा को समझने एवं पड़ताल करने की ज़रूरत है, चाहे पढ़ाने के नए-नए तरीक़े क्यों न ईजाद किए जा रहे हों।

इक्कीसवीं सदी के स्कूल की जब भी बात होती है तो स्कूल को आधुनिकता या उत्तर-आधुनिकता के विमर्श में रखकर विश्लेषित किया जाता है। ऐसे में इक्कीसवीं सदी के स्कूल की परिकल्पना करें तो क्या वह स्कूल ऐसा होगा, जिसमें विद्यार्थी कॉपी-किताब लेकर नहीं जाएँगे बल्कि स्मार्टफ़ोन, नोटबुक, लैपटॉप, टैबलैट और आइपैड लेकर जाएँगे। प्रॉजेक्टर एवं स्मार्ट ब्लैक बोर्ड से पढ़ाई होती है, पुस्तकें डिजिटल हैं, वातानुकूलित कमरे एवं वातानुकूलित बसें हैं, स्कूल में मिट्टी का अखाड़ा नहीं बल्कि सिंथेटिक ट्रैक है जिस पर दौड़ा जाता है। सवाल है कि क्यों परिश्रम किया जाए, मशीन है तो! विज्ञान ने तमाम आविष्कार हमारे जीवन को सुखी और आरामदायक बनाने के लिए किए हैं, ऐसे में हाथों से काम क्यों? ज्ञान का जन्म बच्चे के प्रयास में होता है। जो ज्ञान बिना प्रयास के मिल जाए, बिना उत्सुकता के प्राप्त हो जाए, वह ज्ञान नहीं, सूचना है। हमारा शिक्षातंत्र आज सूचनातंत्र बनकर रह गया है। ज्ञान की परिभाषा आज हमें इस तरह नए सिरे से करनी होगी कि विविध ज्ञान का उत्पादक हम बच्चे को मान सकें, न कि उस वैज्ञानिक को जो एक प्रयोग पहले कर चुका है। दुनिया का हर प्रयोग पहले कर लिया गया है। लेकिन स्वयं अपने हाथों से उसी प्रयोग को देखना ज्ञानार्जन की बुनियाद है[18] और इसी ज्ञानार्जन की अधिगम प्रक्रिया में बच्चों को टोलियों में मिलकर काम करने की अवधारणा को इंगित करते हुए सुनील जोशी लिखते हैं कि टोलियों में काम करने की वजह से बच्चे काफ़ी स्वायत्त हो जाते हैं और कक्षा के गुप्त सत्ता समीकरण में नया संतुलन स्थापित होता है। यह परिवर्तन आंशिक ही सही मगर मामूली नहीं है। टोली में काम करना सीखने में सामूहिकता का एक घटक है और यह प्रवृत्ति बाल वैज्ञानिक में हर जगह झलकती है।[19] साथ-साथ सीखने में प्रत्येक स्थिति अद्वितीय होती है, जिसे दोहराया नहीं जा सकता। इस रूप में शिक्षा ज्ञान का सृजन करने की सतत प्रक्रिया बन जाती है, जिसमें बच्चे निरंतर एक-दूसरे के साथ पूर्णतर मनुष्य बनने की तलाश उस दुनिया में करते हैं, जिसमें वे जीते हैं। ऐसे में एक संस्थान के रूप में स्कूल की भौतिक पहचान केवल उसकी सामाजिक पहचान की ओर ध्यान केंद्रित करती है और अपने सदस्यों के दिमाग़ में उसकी छवि चस्पाँ कर देती है, लेकिन इससे सामाजिक पहचान का स्वरूप और उसकी ख़ासियतें तय नहीं होती। किसी संस्थान की सामाजिक पहचान उसकी गतिविधियों के ख़ास पैटर्नों से और उस संस्थान के व्यक्तियों के आपसी संबंधों के ढाँचों, जो कि उन गतिविधियों को आकार-प्रकार गढ़ते हैं, से बनती है, बरक़रार रहती है और पुनुरूत्पादित होती रहती है।[20]

वहीं नागरिक बनाने का कार्य अगर स्कूल कर रहा है तो इक्कीसवीं सदी के स्कूल से पढ़कर निकलने वाले नागरिक क्या ऐसे होंगे जो न जेंडर को माने, न यौनिकता, न क्षेत्रीयता, न भाषा, न देश और न ही संस्कृति को मानें। जब इन सभी विविधताओं को नहीं मानते हैं तो मनुष्य मूल्यविहीन

[18] कृष्ण कुमार (2002) : 34-35.

[19] सुनील जोशी (2008) : 94-95.

[20] आंद्रे बेते (2011) : 7.

रोबोट हो जाएगा। बचपन में हम सभी ने स्कूल में एक 'दृश्य' का चित्रण किया है। जिसमें पहाड़ बनाते हैं, बड़ी-सी नदी होती है, जिसके एक तरफ़ झोंपड़ी होती है और उधर एक पेड़ होता है, जो पहाड़ से भी ऊँचा होता है। जब यह 'चित्र' नहीं बना पाते थे तो मास्टर जी कहते थे कि स्केल से पहाड़ बना लो। हम जानते हैं कि प्रकृति ने स्केल से कोई पहाड़ नहीं बनाया, तो फिर एकरूपता क्यों, उस विविधता को क्यों न सहेजा जाए जिसे प्रकृति ने बनाया है? 'वाम उदारवादी बहुसंस्कृतिवाद' यह मानता है कि प्रत्येक संस्कृति का निर्माण अलग-अलग मूल्य, भाषा, दृष्टिकोण तथा रहन-सहन के आधार पर होता है। इसी कारण प्रत्येक संस्कृति का अपना व्यवहार होता है।

विमर्श का एक पहलू यह भी है कि इन स्कूलों से पढ़कर निकलने वाले नागरिकों में क्या चारित्रिक गुण होंगे? हरिशंकर परसाई लिखते हैं कि 'नागरिकों में जो बेमज़ा बात होती है वह खुले मंच से कहते हैं और जो भी मज़ेदार बात होती है उसे अकेले में कहा जाता है।' तो समाज के नागरिकों में यह विडंबना है कि वे बेमतलब की बातें खुले मंच से करते हैं। ऐसे में जो स्कूल नीरव और नीरस होता है उसका फैलाव व्यापक पैमाने पर हो जाता है। हमलोगों का यह अनुभव रहा है कि स्कूल का वो स्कूलीकरण जो आधे घंटे की छुट्टी के दौरान होता है, जो प्रार्थना सभा एवं उसके बाद होता है, जो स्कूल के बाहर होता है, वही शायद याद रहता है। अध्यापक भी वही याद रखते हैं जो या तो सबसे अच्छे रहे हों या फिर जो सबसे ख़राब। लोकतंत्र के अच्छे संचालन के लिए शिक्षित नागरिक वर्ग का होना अपरिहार्य है और कोई व्यक्ति अच्छे नागरिक होने का गुण अनायास हवा में से नहीं पकड़ता, उन्हें हासिल करने और बढ़ावा देने के लिए एक ख़ास प्रकार की शिक्षा की ज़रूरत होती है। एक अच्छा नागरिक होने के लिए सिर्फ़ भौतिक व जैविक क्रियाकलापों का जानकार होना ही काफ़ी नहीं होता, अच्छे नागरिक को उस सामाजिक संसार के बारे में भी समझ होना ज़रूरी है जिसका वह हिस्सा है[21] और यह नागरिक केवल नागरिक शास्त्र की कक्षाओं में निर्मित नहीं होता, बल्कि उसी अवधि की घंटी व स्कूल में आने-जाने के समय के दौरान होता है, जो बामज़ा ज्ञान की निर्मिति से पनपता है।

ऐसे में यह भी विमर्श करना प्रासंगिक हो जाता है कि इक्कीसवीं सदी के स्कूल और समाज में जो एकरूपताएँ बनेंगी या पनपेंगी उसको कैसे और क्यों रोके। यदि यह सरकार की ज़िम्मेदारी है तो सरकार के पास मेमोरैंडम ले जाने से वह नहीं मिलेगा, धरना–प्रदर्शन से नहीं मिलेगा। प्रचलित लोकतांत्रिक व्यवस्था में हम लोगों ने बिजली, पानी, सड़क की माँग को मज़बूती से रखा है और

---

[21] आंद्रे बेते (2011) : 5.

कहा है कि वोट तभी करेंगे जब हमें बिजली, पानी, सड़क मिलेगा। अब हमें विमर्श का यह केंद्र बनाना होगा कि वोट तभी करेंगे जब हमारे इलाक़े का स्कूल अच्छा होगा। जब तक यह माँग नहीं उठेगी कि हमारे इलाक़े का भी स्कूल नवोदय विद्यालय या केंद्रीय विद्यालय जैसा हो, जब तक शिक्षा  राजनीतिक विमर्श का पुरज़ोर हिस्सा नहीं बनेगी तब तक स्कूलों की हालत बेमज़ा होगी और हमें विकल्पों को तलाशने के लिए धकेला जाता रहेगा।

कांचा इलैया लिखते हैं कि मैं उस दौड़ में शामिल नहीं होना चाहता जहाँ दलित के बच्चों को मातृभाषा में पढ़ा दिया जाए। आप पढ़ाते मातृभाषा में हैं और आपकी प्रतियोगिता अंग्रेज़ी भाषा में होती है। मेरा बच्चा भी अंग्रेज़ी पढ़े। आज नहीं पढ़ पा रहा है कल पढ़ेगा, अगली पीढ़ी में पढ़ेगा और यह कह देना कि चूँकि तुम दलित हो, तुम हाशिए के व्यक्ति हो, तुम मातृभाषा में पढ़ो और बाक़ी लोग अंग्रेज़ी, फ्रेंच, स्पैनिश, जर्मन और लैटिन पढ़ेंगे और उसके बाद प्रतियोगिता की दौड़ होगी। तो कुछ वर्ग हमेशा अपने को विशिष्ट रखते हैं। अगर हिंदुस्तान के सभी बच्चे इंटरनैशनल स्कूलों में जाने लगेंगे तो उच्च वर्ग के लोग फिर से शांति निकेतन में लौट जाएँगे। ऐसे में वर्ग विशेषता को भी पहचानने की ज़रूरत है।

## संदर्भ


अनिल सद्गोपाल (2000), *शिक्षा में बदलाव का सवाल*, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली.

अमर्त्य सेन तथा ज्याँ द्रेज़ (2012), *सिर्फ़ आर्थिक विकास ही नहीं सामाजिक उन्नति भी चाहिए*, गार्गी प्रकाशन, सहारनपुर.

आंद्रे बेते (2011), 'एक संस्थान के तौर पर विद्यालय', *शिक्षा-विमर्श*, अंक 3, मई-जून.

———(2011), 'स्कूलों में सामाजिक विज्ञान', *लर्निंग कर्व*, वर्ष 2, अंक 3,  मई.

उमा रमण (2014), 'शिक्षा का असाध्य संकट : कौन है इसका जिम्मेदार?', प्रोग्रेसिव प्रिंटर्स, दिल्ली.

कांचा इलैया (2006), *मैं हिंदू क्यों नहीं*, अंग्रेज़ी से (अनु.) : ओमप्रकाश वाल्मीकि, साम्य प्रकाशन, कोलकाता.

कृष्ण कुमार (2002), *शिक्षा और ज्ञान*, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली.

————(2013), *शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व*, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली.

जॉन डूई (2009), *स्कूल और समाज*, अंग्रेज़ी से अनुवाद : सुनील कपूर, आकार बुक्स, दिल्ली.

देवशंकर नवीन तथा सुशांत कुमार मिश्र (2016), *उत्तर आधुनिकता : कुछ विचार*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली.

नवनीत शर्मा तथा अनामिका (2017), 'क्लासी कास्ट ऐंड प्रेज्यूडिस : बीइंग साइंटिस्ट, बीइंग खोले,' *मेनस्ट्रीम वीकली*, खंड LV, सं. 50, दिसंबर.

नवनीत शर्मा, हरिकृष्णन बी. तथा प्रदीप नायर (2014), 'कॉज़, कैंडल्स ऐंड दि अखंड राष्ट्र : बीइंग दीनानाथ बत्रा', *मेनस्ट्रीम वीकली*, खंड LII,  सं.  41, अक्टूबर.

नवनीत शर्मा तथा शौक़त अहमद मीर (2019), 'डीकोलोनाईजिंग एजुकेशन : री-स्कूलिंग इन इंडिया', *सायनेक्टिका*, अंक 52 : http://www.scielo.org.mx/pdf/sine/n52/2007-7033-sine-52-00007.pdf.

माइकल ओकशॉट (2002), 'मानव और विद्यालय', *शिक्षा-विमर्श*, वर्ष 4 : अंक 1, अप्रैल-मई.

श्यामाचरण दुबे (1994), *शिक्षा समाज और भविष्य*, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली.

सुनील जोशी (2008), *जश्न-ए-तालीम : होशंगाबाद विज्ञान का शैक्षिक सफ़रनामा*, एकलव्य प्रकाशन, भोपाल.